डॉ० मंगलदेव शास्त्री
पूर्व उपकुलपति संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.

# भारतीय संस्कृति का वास्तविक दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति के विषय में आजकल जो विचार-विभ्रम फैला हुआ है उसको दूर ने के लिये, इस लेख में हम भारतीय संस्कृति के विषय में कुछ मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए उसके वास्तविक दृष्टिकोण को स्पष्ट करना चाहते हैं.

सबसे पहले हम भारतीय संस्कृति स्वभावतः प्रगतिशील है, इस सिद्धान्त को लेते हैं :

## भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता

प्राचीन जातियों में अपनी प्रथाओं, अपने आचार विचारों और अपनी संस्कृति को अत्यन्त प्राचीन काल से आने वाली अविच्छिन्न परम्परा के रूप में मानने की प्रवृत्ति सर्वत्र देखने में आती है. अनेक धार्मिक या राजनैतिक प्रभाव वाले वंशों की, यहां तक कि धार्मिक मान्यताओं से संबद्ध अनेक नदियों आदि की भी, दैवी या लोकोत्तर उत्पत्ति के मूल में यही प्रवृत्ति काम करती हुई दीख पड़ती है.

भारतवर्ष में भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण विस्तृत और व्यापक रूप में चिरकाल से चली आ रही है.

इसी के परिणामस्वरूप देश की साधारण जनता में प्रायः ऐसी भावना बद्धमूल हो गयी है कि उसकी धार्मिक और सांस्कृतिक रूढ़ियां सदा से एक ही रूप में चली आयी हैं. दूसरे शब्दों में, साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग भारतीय संस्कृति को, **प्रगतिशील** या **परिवर्तनशील** न मानकर, सदा से एक ही रूप में रहने वाली स्थितिशील मानने लगे हैं.

'सनातन धर्म' या 'शाश्वत धर्म' जैसे शब्दों के प्रायः दुरुपयोग द्वारा उक्त भावना में और भी दृढ़ता लायी गयी है.

परन्तु विज्ञान-मूलक ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारतीय संस्कृति की सूत्रात्मा चिरन्तन काल से चली आ रही है, वह अपने बाह्य रूप की दृष्टि से बराबर परिवर्तनशील और प्रगतिशील रही है.

वैदिक तथा पौराणिक उपास्य देवों की पारस्परिक तुलना से हमारी देवता-विषयक मान्यताओं में समय-भेद से होने वाला महान् परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है.

समय-भेद से ब्रह्म आदि की पूजा की प्रवृत्ति और उसके विलोप से भी यही बात स्पष्टतया सिद्ध होती है.

इसी प्रकार के दो-चार अन्य निदर्शनों को भी यहां देना अनुपयुक्त न होगा.

'यज्ञ' शब्द को लीजिए. वैदिक काल में इसका प्रयोग प्रायेण देवताओं के यजनार्थ किये जाने वाले कर्म-कलाप के लिये ही होता था. पर कालान्तर में अनेक कारणों से वैदिक कर्म-काण्ड के शिथिल हो जाने पर यही शब्द अधिक व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होने लगा. इसी परिवर्तित दृष्टि के कारण भगवद्गीता,[1] में वैदिक यज्ञों के साथ-साथ (जिनको

१. देखिए भगवद्गीता ४।२५-३०, ३२ तथा २।४२–४३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह 'द्रव्य-यज्ञ' कहती है,) तपोयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि का भी उल्लेख करती है. स्वामी दयानन्द के अनुसार तो 'शिल्प-व्यवहार और पदार्थ-जीवन जो कि जगत् के उपकार के लिये किया जाता है उसको (भी) यज्ञ कहते हैं."[१] आचार्य बिनोवा भावे का भूदान-यज्ञ तो आज सबकी जिह्वा पर है.

इसी प्रकार 'ऋग्वेद, 'यजुर्वेद' 'आयुर्वेद' 'धनुर्वेद' आदि शब्दों में प्रयुक्त 'वेद' शब्द स्पष्टतया किसी समय सामान्येन विद्या या ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता था. कालान्तर में यह अनेकानेक शाखाओं में विस्तृत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य के लिये ही प्रयुक्त होने लगा. उन शाखाओं में से अनेकों का तो अब नाममात्र भी शेष नहीं है. यही 'वेद' शब्द अब प्रायेण उपलब्ध वैदिक संहिताओं के लिए ही प्रयुक्त होने लगा है.

इसी प्रकार 'वर्ण' शब्द के भी विभिन्न प्रयोगों में समय भेद से परिवर्तित होने वाली वर्ण-विषयक दृष्टियों का प्रभाव दिखाया जा सकता है.

'यज्ञ' आदि जैसे महत्त्व के शब्दों का समय-भेद से होने वाला भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग स्पष्टतया विचारों में घात-प्रतिघात तथा सामयिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप होने वाली भारतीय संस्कृति की प्रगति की ओर ही संकेत करता है.

आचार-विचार की दृष्टि से भी अनेकानेक स्पष्ट उदाहरणों से भारतीय संस्कृति कभी स्थितिशील न होकर सदा प्रगतिशील या परिवर्तनशील रही है, इस सिद्धान्त की पुष्टि की जा सकती है.

शूद्र, अतिशूद्र कहलाने वाली भारतीय जातियों के प्रति हमारी कठोर दृष्टि और व्यवहार में सामयिक परिस्थितियों और सन्त महात्माओं के आन्दोलनों के कारण शनैःशनैः होने वाला विकासोन्मुख परिवर्तन भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता का एक उज्ज्वल उदाहरण है. 'न शूद्राय मतिं दद्यात्[२] (शूद्र को किसी प्रकार का उपदेश न दे), तथा 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्[३] (शूद्र तो मानो चलता-फिरता श्मशान है. इसलिए उसके समीप में वेदादि नहीं पढ़ना चाहिए, शूद्र के प्रति इस कठोर और अशोभन दृष्टि से चल कर उसको 'हरि+जन' मानने की दृष्टि में स्पष्टतया आकाश-पाताल का अन्तर है.[४]

इसी प्रकार विभिन्न विदेशी जातियों को आत्मसात् (हम इसको 'शुद्धि' नहीं मानते) करने में, विदेशों में भारतीय संस्कृति के संदेश को पहुँचाने में, और वेद, और शास्त्रों की दुरधिगम कोठरियों में बन्द उस सन्देश को जनता की भाषा में, प्रायः जनता के ही सच्चे प्रतिनिधि सन्त-महात्माओं द्वारा, सर्व साधारण के लिए सुलभ किये जाने में, हमें उपर्युक्त प्रगतिशीलता का सिद्धान्त ही काम करता हुआ दीखता है.

भारतीय संस्कृति के इतिहास के लम्बे काल में ऐसे स्थल भी अवश्य आते हैं जब कि उसके रूप में होने वाले परिवर्तन आपाततः विकासोन्मुख प्रगति को नहीं दिखलाते. तो भी वे उसकी स्थिति-शीलता को तो सिद्ध करते ही हैं. साथ ही, जैसे स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से रोगावस्था अरुचिकर होने पर भी हमारे स्वास्थ्य-विरोधी तत्त्वों को उभाड़ कर उनको नाश करके हमारे स्वास्थ्य में सहायक होती है, उसी प्रकार आपाततः अवांछनीय परिवर्तनों को समझना चाहिए. कभी-कभी उन परिवर्तनों के मूल में हमारी जातीय आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति या सामयिक आवश्यकता भी काम करती हुई दीखती है. इसलिए उन परिवर्तनों के कारण भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता के हमारे उपर्युक्त सामान्य सिद्धांत में कोई क्षति नहीं आती.

---

१. स्वामी दयानन्द-कृत 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' से.

२. मनुस्मृति ४.८०.

३. देखिए—'वेदान्तसूत्र—शांकरभाष्य' १.३.३८.

४. इस दृष्टि-भेद के विस्तृत इतिहास में एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का सारा इतिहास प्रतिबिम्बित रूप में दिखाया जा सकता है. हम इस पर स्वतन्त्ररूप से फिर कभी विचार करना चाहते हैं.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह प्रगतिशीलता या परिवर्तनशीलता का सिद्धांत केवल हमारी कल्पना नहीं है हमारे धर्मशास्त्रों ने भी इसको मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है.

धर्मशास्त्रों का कलि-वर्ज्य प्रकरण[1] प्रसिद्ध है. इसमें प्राचीन काल में किसी समय प्रचलित गोमेध, अश्वमेध, नियोग-प्रथा आदि का कलयुग में निषेध किया गया है. विभिन्न परिस्थितियों के कारण भारतीय संस्कृति के स्वरूप में प्रगति या परिवर्तन होते रहे हैं इस बात का, हमारे धर्मशास्त्रों के ही शब्दों में, इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलना कठिन होगा.

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक युग में उसकी आवश्यकता के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है, इस सामान्य सिद्धांत का प्रतिपादन भी धर्मशास्त्रों में स्पष्टतः मिलता है. उदाहरणार्थ :

**अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे।**
**अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः।**
**युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्तते पुनः।**
**धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्तते पुनः।**
**श्रुतिश्च शौचमाचारः प्रतिकालं विभिद्यते।**
**नाना धर्माः प्रवर्तन्ते मानवानां युगे-युगे।**

अर्थात्, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में युग के रूप या परिस्थिति के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है. युग-युग में मनुष्यों की श्रुति (धार्मिक मान्यता की पुस्तक या साहित्य), शौच (स्वच्छता का स्वरूप और प्रकार) और आचार (आचार-विचार या व्यवहार) सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते हैं.

धर्मशास्त्रों की ऐसी स्पष्ट घोषणा के होने पर भी, यह आश्चर्य की बात है कि हमारे प्राचीन धर्मशास्त्री विद्वानों के भी मन में 'भारतीय संस्कृति स्थितिशील है' यह धारणा बैठी हुई है. गांधी-युग से पहले के सांप्रदायिक विद्वानों के शास्त्रार्थ अब भी लोगों को स्मरण होंगे. उनमें यही निरर्थक तथा उपहासास्पद झगड़ा रहता था कि हमारा सिद्धांत सनातन है या तुम्हारा. अब भी यह धारणा हमारे देश में काफी घर किये हुए है. इसी के कारण सांप्रदायिक कटु भावना तथा संकीर्ण विचार-धारा अब भी हमारे देश में सिर उठाने को और हमारे सामाजिक जीवन को विषाक्त करने को सदा तैयार रहती है.

इसलिए भारतीय संस्कृति की सबसे पहली मौलिक आवश्यकता यह है कि उसको हम स्वभावतः प्रगतिशील घोषित करें. उसी दशा में भारतीय संस्कृति अपनी प्राचीन परम्परा, प्राचीन साहित्य और इतिहास का उचित सम्मान तथा गर्व करते हुए अपने अन्तरात्मा की संदेश-रूपी मानव-कल्याण की सच्ची भावना से आगे बढ़ती हुई, वर्तमान प्रबुद्ध भारत के ही लिए नहीं, अपितु संसार भर के लिए उन्नति और शान्ति के मार्ग को दिखाने में सहायक हो सकती है.

यह कार्य 'हमारा आदर्श या लक्ष्य भविष्य में है, पश्चाद्दर्शिता में नहीं' यही मानने से हो सकता है. भारतीय संस्कृति रूपी गंगा की धारा सदा आगे ही बढ़ती जाएगी, पीछे नहीं लौटेगी. प्राचीन युग जैसा भी रहा हो, पुनः उसी रूप में लौट कर नहीं आ सकता, हमारा कल्याण हमारे भविष्य के निर्माण में निहित है, हम उसके निर्माण में अपनी प्राचीन जातीय संपत्ति के साथ-साथ नवीन जगत् में प्राप्य संपत्ति का भी उपयोग करेंगे. यही भारतीय संस्कृति की प्रगति-शीलता के सिद्धान्त का रहस्य और हृदय है.

भारतीय संस्कृति का दूसरा सिद्धांत उसका असाम्प्रदायिक होना है. यहाँ हम उसी की व्याख्या करेंगेः

---

१. देखिए—'अथ कलिवर्ज्यानि. बृहन्नारदीये—समुद्रयातुः स्वीकारः कमण्डलुविधारणम्।···देवराच्च सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के च गोर्वधः। मांसदानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा।···नरमेधाश्वमेधकौ। गोमेधश्च तथा मखः। इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥ 'इत्यादि'···
—निर्णयसिन्धु, कलिवर्ज्यप्रकरण.

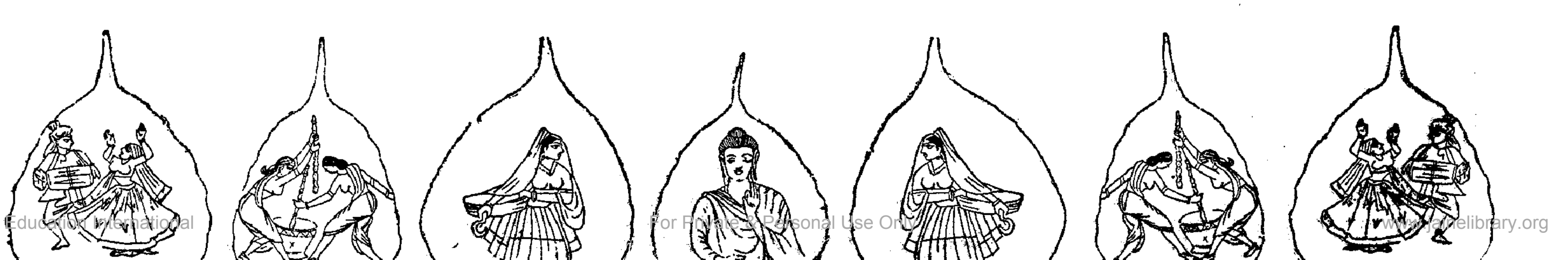

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## भारतीय संस्कृति की असांप्रदायिकता

संस्कृत में प्राचीन काल से एक कहावत चली आ रही है कि :

**श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।**

अर्थात् श्रुतियों और स्मृतियों में परस्पर विभिन्न मत पाये जाते हैं. यही बात मुनियों के विषय में भी ठीक है.

इसका अभिप्राय यही है कि किसी भी सभ्य समाज में मतभेद और तन्मूलक सम्प्रदायों का भेद या बाहुल्य स्वाभाविक होता है. इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि में भेद का होना ही है. कोई व्यक्ति स्वभाव से ही ज्ञान-प्रधान, कोई कर्म-प्रधान और कोई भक्ति या भावना-प्रधान होता है. फिर समय-भेद तथा देश-भेद से भी मनुष्यों की प्रवृत्तियों में भेद देखा जाता है. रेगिस्तान के शुष्क प्रदेश में रहने वालों के और बंगाल जैसे नमी प्रधान प्रदेश में रहने वालों के स्वभावों में अन्तर होना स्वाभाविक ही है.

ऐसे ही कारणों से भारत वर्ष जैसे विशाल और प्राचीन परम्परा वाले देश में अनेकानेक सम्प्रदायों का होना बिल्कुल स्वाभाविक है.

एक सीमा तक यह सम्प्रदाय-भेद स्वाभाविक होने के कारण व्यक्तियों की सत्प्रवृत्तियों के विकास का साधक होता है. यह तभी होता है जब कि उन विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के सामने कोई ऐसा उच्चतर आदर्श होता है जो उन सबको परस्पर संगठित और सम्मिलित रहने की प्रेरणा दे सकता हो. परन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है कि सांप्रदायिक नेताओं की स्वार्थ बुद्धि और धर्मान्धिता या असहिष्णुता के कारण सम्प्रदायों का वातावरण दूषित, संघर्षमय और विषाक्त हो जाता है. उस दशा में सम्प्रदाय-भेद अपने अनुयायियों के तथा देश के लिये भी अत्यन्त हानिकारक आर घातक सिद्ध होता है.

भारतीय संस्कृति की आंतरिक धारा में चिरन्तन से सहिष्णुता की भावना का प्रवाह चला आया है. तो भी, भारतवर्ष में सम्प्रदायों का इतिहास बहुत कुछ उपर्युक्त दोषों से युक्त हो रहा है. आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों के कारण और कुछ अंशों में धर्मान्धता के कारण भी अपने-अपने नेताओं द्वारा सम्प्रदायों का और स्वभावतः शांति-प्रधान, पर भोली-भाली और मूर्ख, जनता का पर्याप्त दुरुपयोग किया गया है.

साम्प्रदायिक वैमनस्य और अत्याचार का उल्लेख करने पर आजकल तत्काल हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य या पिछली शताब्दियों में दक्षिण भारत में ईसाइयों द्वारा हिन्दू जनता पर किये आत्याचार सामने आ जाते हैं. यह सब तो निस्सन्देह ठीक ही है. पर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और अत्याचार का विशुद्ध भारतीय सम्प्रदायों में अभाव रहा है, यह न समझ लेना चाहिए.

पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय संस्कृत साहित्य में वर्णित उन व्यक्तिगत अथवा सामूहिक अत्याचारों[1] के आख्यानों या विधानों को, जो वास्तव में साम्प्रदायिक असहिष्णुता-मूलक या उसके व्याज में राजनीतिक-मूलक थे, जाने दीजिए. हम उसका उल्लेख यहाँ नहीं करेंगे. यहाँ कुछ अन्य निदर्शनों को देना पर्याप्त होगा.

**उदाहरणार्थः**

'श्रमण-ब्राह्मणम्' (व्याकरण-महाभाष्य २.४.९) पद के आधार पर श्रमणों (अर्थात जैन-बौद्धों) और ब्राह्मणों में सर्प और नकुल जैसी शत्रुता का उल्लेख किया जा सकता है. ईसवी शतियों के प्रारम्भिक काल के आसपास इस शत्रुता ने भारतवर्ष के राजनीतिक तथा धार्मिक वातावरण में जो हलचल मचा रखी थी, वह इतिहासकार से छिपी नहीं है.

---

१. उदाहरणार्थ, स्कन्द-पुराणान्तर्गत सूतसंहिता में शैव संप्रदाय के विरोधियों के बाधन और शिरश्छेदन का स्पष्टतया विधान किया है, जैसे—*शिवयात्रापराणां तु बाधकानां तु बाधनम् । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता···।। भस्मसाधन निष्ठानां दूषकस्य···छेदनं शिरसः···।।* (सूतसंहिता ४।२६।२६—३२) । रामायण में भगवान् रामचन्द्र द्वारा शम्बूक (शूद्र) का वध प्रसिद्ध है । वेद सुनने मात्र के अपराध के लिए शूद्र के कानों में रांगा पिलाने की चर्चा प्रसिद्ध ही है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज की असाम्प्रदायिक भारत सरकार के विरुद्ध सम्प्रदाय-वादियों का आन्दोलन उसके सामने कुछ भी नहीं है.

भगवान् मनु ने अपनी मनुस्मृति में जैन जैसे सम्प्रदायों को नास्तिक ही नहीं कहा है, उनके धर्मग्रंथों को भी 'कुदृष्टि' 'तमोनिष्ठ' (अज्ञानमूलक) और 'निष्फल' कहा है.[1]

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ।

(अर्थात् मदमत्त हाथी से पीछा किये जाने पर भी, जैन-मन्दिर में न जाए) ऐसे वचनों से और दक्षिण भारत में पूर्व-मध्य काल में अनेकानेक जैन-बौद्ध मन्दिरों को बलात् छीन कर पौराणिक मन्दिरों का रूप देने में भी सांप्रदायिक विद्वेष और अत्याचार के ही निदर्शन हमारे सामने आते हैं.

इसके अतिरिक्त, नीचे लिखे उद्धरणों को भी देखिए :

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ।

(वेदों के बनाने वाले भांड, धूर्त और निशाचर ये तीन थे),

धिग् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम् । तं त्यजेदन्त्यं यथा ।

(भस्म और रुद्राक्ष से जिसका कपाल विहीन है उसका अन्त्यज के समान दूर से ही परित्याग कर दे),

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः । —भागवत ४.२.२८.

(अर्थात्, शैवधर्म के अनुयायी वास्तव में पाखण्डी और सच्छास्त्र के विरोधी हैं.)

यथा श्मशानजं काष्ठं सर्वकर्मसु गर्हितम् ।
तथा चक्राङ्कितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः ।

(अर्थात् श्मशान के काष्ठ के समान ही चक्रांकित वैष्णव का सब कर्मों से बहिष्कार करना चाहिए. )

इसी प्रकार हमारे अनेक धार्मिक ग्रंथ, शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि संप्रदायों के परस्पर विद्वेष के भावों से भरे पड़े है. इस साम्प्रदायिक विद्वेष भावना ने हमारे दार्शनिक ग्रन्थों पर भी कहां तक अवांछनीय प्रभाव डाला है, इसका अच्छा नमूना हमको 'माध्वमुखभंग' 'माध्वमुखचपेटिक' दुर्जन-करि-पंचानन' जैसे ग्रन्थों के नामों से ही मिल जाता है. इन नामों में विद्वज्जन सुलभ शालीनता का कितना अभाव है, यह कहने की बात नहीं है.

दर्शनशास्त्र का विषय ऐसा है जिसका प्रारम्भ ही वास्तव में साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना की सीमा की समाप्ति पर होना चाहिए. इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में विभिन्न संप्रदायों के लोग संकीर्णता से ऊपर उठ कर, सद्भावना और सौहार्द के स्वच्छ वातावरण में एकत्र सम्मिलित हो सकते हैं.

परन्तु भारतवर्ष में दार्शनिक साहित्य का विकास प्रायेण सांप्रदायिक संघर्ष के वातावरण में ही हुआ था. इसलिए उन-उन सम्प्रदायों से संपृक्त विभिन्न दर्शनों के साहित्य से भी प्रायः सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता रहा है.

न्याय-वैशेषिक दर्शनों का विकास शैव सम्प्रदाय से हुआ है.[2] योग की परम्परा का भी झुकाव शैव सम्प्रदाय की ओर अधिक है. रहे पूर्व—मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन-दर्शन—इनका तो स्पष्टतया घनिष्ठ सम्बन्ध वैदिक, वैष्णव, बौद्ध और जैन-सम्प्रदायों से ही रहा है. एक सांख्य-दर्शन ऐसा है जिसकी दृष्टि प्रारम्भ से ही विशुद्ध दार्शनिक रही है. पर इसीलिए उसे वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य[3] आदि में अवैदिक कह कर तिरस्कृत किया गया है.

---

१. देखिए—'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः'—मनुस्मृति १२.९५.

२. इस विषय में राजशेखरसूरिकृत षड्दर्शन-समुच्चय, तथा हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शन-समुच्चय को भी देखिए.

३. देखिए 'न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्'—वेदान्तसूत्रशांकरभाष्य २.१.१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांप्रदायिक भावना की तरह ही जाति-पांति का अनन्त भेद भी भारतीय समाज में वैषम्य का कारण रहा है. अब भी नाना रूपों में हमारे समाज में फैला हुआ इसका विष हमारे अनेक कार्यकर्त्ताओं को 'अन्तःशाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवा' इस उक्ति का लक्ष्य बनाता रहता है.

इस प्रकार चिरकाल से प्रायेण विचार-संकीर्णता और परस्पर संघर्ष की भावना से परिपूर्ण संप्रदायवाद, तदभिभूत दार्शनिक साहित्य और जाति-पाँति के भेद-भाव से जर्जरित भारतीय जनता में एक जातीयता के नवीन जीवन का संचार करने के लिये, मानो एक उपास्य देव के रूप में, एकमात्र प्रगतिशील तथा असांप्रदायिक भारतीय संस्कृति के आदर्श का ही आश्रय लिया जा सकता है.

भारतीय संस्कृति असाम्प्रदायिक है, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भारतीय संस्कृति का सम्प्रदाय-विशेष से कोई विरोध या झगड़ा है. प्रत्युत नैतिकता तथा मानव-हित की भावना की सीमा के अन्दर वह सम्प्रदायों का सम्मान करती है और किसी मुख्य धारा की सहायक नदियों के समान, उनको अपना उपकारक और पूरक मानती है. नैयायिकों की जाति, जैसे व्यक्तियों से पृथक् होते हुए भी उनसे पृथक् नहीं रहती, इसी प्रकार संस्कृति भारतीय संप्रदायों से पृथक् अर्थात् स्वयं असाम्प्रदायिक होते हुए भी उनसे पृथक् नहीं है. इसी कारण, भारतीय संस्कृति के नाते से, सम्प्रदायों का परस्पर सम्बन्ध आदरयुक्त और सौहार्द-पूर्ण होना चाहिए. उनमें होड़ या स्पर्धा भी हो तो वह मानव-हित और भारतीय संस्कृति के महत्त्व को बढ़ाने वाली बातों में होनी चाहिए.

इस प्रकार असाम्प्रदायिक भारतीय संस्कृति की भावना ही सम्प्रदायों में पारस्परिक संघर्ष की भावना को नष्ट कर उनको अपने विशुद्ध कर्तव्य-पालन के लिए प्रेरणा दे सकती है. भारतीय संस्कृति का तीसरा सिद्धांत है :

## भारतीय संस्कृति की भारत के समस्त इतिहास में ममत्व-भावना

भारतीय संस्कृति की सतत-प्रवहण-शील धारा की तुलना भगवती गंगा की धारा से की जा सकती है. जैसे गंगा की धारा में मूल किसी अज्ञात स्थान से निकल कर, अनेकानेक दुरधिगम तथा दुर्गम ऊँचे-नीचे पर्वतों और प्रदेशों में होती हुई, अनेक विभिन्न धाराओं के जलप्रवाहों को आत्मसात् करती हुई, अन्त में सुन्दर रमणीक समतल प्रदेशों में प्रवेश कर नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे की ओर ही बहती है, ठीक उसी तरह भारतीय संस्कृति की धारा किसी प्रागैतिहासिक अज्ञात युग से प्रारम्भ होकर, अनुकूल तथा प्रतिकूल विभिन्न परिस्थितियों में से गुजरती हुई तथा विभिन्न प्रकार की विचार-धाराओं को आत्मसात् करती हुई शनैः शनैः अपने विशालतर और गम्भीरतर रूप में आगे बढ़ती हुई ही दिखायी देती है. विशिष्ट स्थानों के विशिष्ट माहात्म्य के होने पर भी जैसे गंगा की समस्त धारा में हमारी मान्यता है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की दृष्टि से उसकी पूरी धारा में, दूसरे शब्दों में, भारत के समस्त इतिहास में हमारी ममत्व की भावना होनी चाहिए. ऐसे किये विना न तो, 'भारतीय संस्कृति' शब्द की ही कोई सार्थकता रहेगी और न देशव्यापी भारतीयत्व की भावना को ही हम जीवित रख सकेंगे.

परन्तु दुर्भाग्य से अब तक हमारी स्थिति प्रायः उक्त सिद्धांत के प्रतिकूल ही रही है.

सांप्रदायिकता, निराशावाद और तज्जनित पश्चाद्दृष्टि की भावना, विभिन्न संकीर्ण स्वार्थों की क्षति और उनके प्राचीन काल के, कुछ कल्पित और कुछ वास्तविक, अभ्युदय की निराशाप्रद स्मृति, इत्यादि अनेक कारणों से हम उक्त आवश्यक सिद्धांत की प्रायः अवहेलना करते रहे हैं, और यह प्रवृत्ति अब तक हममें विद्यमान है.

हमारे धर्मशास्त्रों में युगों के क्रम से धर्म के ह्रास का सिद्धांत, पुराणों में 'नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्' (अर्थात् नन्दों के राज्यारूढ़ होने पर वैदिक परम्परा के पोषक जो 'क्षत्रिय' राजा थे उनका अन्त हो गया) यह कथन, अथवा कलियुग के दुष्प्रभाव का वर्णन, ये सब उसी प्रवृत्ति के निदर्शन हैं.

वैदिक परम्परा के उस अन्तिम युग के दिनों में, जब कि जन्मना जातिवाद खूब बढ़ गया था और हमारे यज्ञों ने भी केवल यान्त्रिक द्रव्य-यज्ञों का रूप धारण कर लिया था, साधारण जनता के हित की आवाज उठाने वाले बौद्ध और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्मों के अभ्युदय से तथा प्रायः उसी के फल-स्वरूप राजनीतिक प्राधान्य के दूसरों के हाथों में चले जाने से, वैदिक सम्प्रदाय के नेताओं में स्वभावतः उत्पन्न होने वाली निराशा ने ही उपर्युक्त विचारों को जन्म दिया था.

इसी सांप्रदायिक (तथा राजनीतिक) प्रतिक्रिया के कारण हम देखते हैं कि उन शताब्दियों के तथा तदुत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में विश्व को चमत्कृत करने वाले बौद्ध-धर्म सम्बन्धी राजनीतिक तथा धार्मिक अभ्युदय की कुछ भी चर्चा नहीं है. यदि आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धान इसके उद्धार को अपने हाथ में न लेता, तो भारतवर्ष के गौरव और गर्व के इस स्वर्ण-युग के इतिहास को हम सदा के लिये खो बैठते.

अब भी, इस विद्या और ज्ञान के युग में भी, हममें ऐसे संकीर्ण-दृष्टि वाले सांप्रदायिकों की कमी नहीं है जो समझते हैं कि महाभारत-काल के पश्चात् भारत का जो भी महत्त्व का इतिहास है, वह उनके लिये अरुचिकर न हो तो भी, उनके गर्व और गौरव की वस्तु नहीं है. यहाँ तक कि कालीदास के संसार को मुग्ध करने वाले शाकुन्तल नाटक से, भक्ति-सुधा के प्रवाह-रूप भागवत से, या भारत की कोटिशः जनता की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने वाले सन्तों के साहित्य से भी कोई वास्तविक उल्लास या प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती.

इस प्रकार की एकांगी या पक्षपात की दृष्टि से न तो हम भारतीय संस्कृति के प्रवाह और परम्परा को ही समझ सकते हैं, और न हम उसके साथ न्याय ही कर सकते हैं.

वास्तव में भारतीय संस्कृति के प्रवाह और स्वरूप को समझने के लिये हमें जनता के विकास की दृष्टि से ही उसका अध्ययन करना होगा भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों का महत्त्व भी हमें, किसी सम्प्रदाय या राजवंश की दृष्टि से नहीं, किन्तु जनता की दृष्टि से ही मानना पड़ेगा. इस प्रकार के अध्ययन से ही हमें प्रतीत होगा कि भारतीय संस्कृति की प्रगति में वैदिक-युग के समान ही बौद्ध-युग का या सन्त-युग का भी महत्त्व रहा है.

राजवंशों के इतिहास से ही किसी देश की संस्कृति का इतिहास समाप्त नहीं हो जाता. राजवंश तो किसी नगर के बाह्य प्राकार के ही स्थानीय होते हैं. प्राकार के अन्दर प्रवेश करने पर ही प्रजा या जनता के वास्तविक जीवन का पता लग सकता है.

इसलिए जनता के जीवन के अविच्छिन्न प्रवाह को या लोक-संस्कृति की प्रगति को समझने के लिये किसी देश के समस्त इतिहास से सम्बन्ध और संपर्क स्थापित करना आवश्यक होता है. इसी को हमने ऊपर **ममत्व-भावना** शब्द से कहा है.

इस ममत्व-भावना के होने पर ही हम अपनी संकीर्ण सांप्रदायिक भावनाओं को पृथक् रख के, भारत के समस्त महान् व्यक्तियों में, चाहे वे किसी सम्प्रदाय के या जाति के कहे जाते हों, ममत्व का, समादर का, श्रद्धा का और गर्व का अनुभव करेंगे. आजकल इन महान् व्यक्तियों को साम्प्रदायिकों ने अपने-अपने सम्प्रदायों की तंग कोठरियों में कैद कर रखा है. हमारा कर्तव्य है कि हम उनको उस कैद से निकाल कर एक खुले असांप्रदायिक वातावरण में लावें, जिससे उनके उपदेशामृत का लाभ समस्त देश को ही क्यों, सारे संसार को हो.

असाम्प्रदायिक भारतीय-संस्कृति की भावना से ही यह हो सकता है. भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अन्तिम सिद्धांत है :

## भारतीय संस्कृति की अखिल-भारतीय भावना

भारत के समस्त इतिहास के ममत्व-भावना की व्याख्या करते हुए हमने भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक विकास और विस्तार की ओर संकेत किया है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना का संकेत उसके देशकृत विस्तार की ओर है. ऐतिहासिक विकास और विस्तार के समान ही उसके अखिल दैशिक विस्तार के साथ भी ममत्व-भावना की आवश्यकता है.

इसको हमारे देश के प्राचीन नेताओं ने अच्छी तरह अनुभव किया था. इसीलिए हमारे धार्मिक तीर्थस्थान देश के कोने-कोने में, प्रत्येक प्रान्त में, नियत किये गये थे. कुम्भ जैसे धार्मिक मेले भी देश के विभिन्न प्रान्तों में बारी-बारी से होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं. इसीलिए तत्तत् प्रान्तों में किसी का भी राज्य हो, सब प्रान्तों के वासी धार्मिक यात्राओं में समस्त देश में जाते थे. सांस्कृतिक दृष्टि से वे समस्त भारत को अपना देश समझते थे. भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना ही प्रांतीय संघर्षों को बहुत-कुछ नियन्त्रण में रख सकती है.

परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा कर्तव्य केवल प्रान्तीय संघर्षों के प्रतिकार से ही समाप्त नहीं हो जाता. हमारा उत्तरदायित्व इससे बहुत अधिक है. आज के भारतवर्ष की एक बड़ी समस्या उसका सांप्रदायिक संघर्ष तथा पिछड़ी जातियों का प्रश्न है. भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना का अभिप्राय मुख्यतः यह है कि हम उक्त समस्या का वास्तविक समाधान भारतीय संस्कृति की दृष्टि से कर सकें. भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में ऊपर दिखलाये हुए सिद्धांतों को दृष्टि में रख कर बड़े उदार हृदय से साम्प्रदायिक तथा पिछड़ी जातियों की समस्या को हाथ में लेने से ही उसका समाधान हम कर सकेंगे. सम्प्रदायों में परस्पर समादर और सम्मान की भावना स्थापित करने से, ऐसे जातीय तथा ऋतु-सम्बन्धी पर्वों और विभिन्न सम्प्रदायों के मान्य महापुरुषों की जयन्तियों की स्थापना से जिनमें सब प्रेमपूर्वक भाग ले सकें, तथा अधिक-से-अधिक सद्भावना के साथ बौद्धिक, नैतिक, साहित्यिक और कला-सम्बन्धी संपर्क स्थापित करने से ही सांप्रदायिक समस्या का समाधान हो सकता है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org